मगसिर शुक्ल ४, मंगलवार, दिनांक १७-१२-१९७४, श्लोक-३, प्रवचन-७

समाधितन्त्र। तीसरी गाथा चलती है न? तीसरी का भावार्थ। **आगम में आत्मा का स्वरूप...** है न? **विशेष।**

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञान-दृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक परमाणुमात्र नहीं अरे!

यह जीव अधिकार की ३८वीं गाथा है, समयसार की। इसलिए वहाँ तो पूर्ण स्वरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त जीव का स्वरूप कैसा है? वह परिणमित जीव कैसा होता है? वह धर्म अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसरूप हुआ, परिणमित वास्तविक जीव का मोक्षमार्ग जिसे परिणमित हुआ है, वह जीव किस प्रकार अनुभव करता है और मानता है, ऐसा कहते हैं। **दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्मा...** ऐसा कहा है न?

आत्मा शुद्ध दर्शन-ज्ञान-आनन्दमय है। परन्तु उसके स्वभाव के सन्मुख होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। यह निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात है। व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र वह तो उपचार कहने मात्र है। वह कहीं वस्तु नहीं है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। चैतन्यस्वभाव मैं आत्मा पूर्ण द्रव्यस्वभाव की प्रतीतिरूप से परिणमित, उसरूप हुआ पूर्ण स्वरूप के ज्ञान को ज्ञेय बनाकर ज्ञानरूप पर्याय में स्वसंवेदनज्ञानरूप से हुआ और चारित्ररूप परिणमित। तीनों की बात लेनी है न? स्वरूप शुद्ध चैतन्य आनन्द, उसकी दृष्टि, निर्विकल्प अनुभव और निर्विकल्प स्वसंवेदन और तदुपरान्त स्वरूप की रमणता, अतीन्द्रिय आनन्द की उग्रता, उसका परिणमन होना, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! समझ में आया? बाह्य नग्नपना या अन्तर पंच महाव्रत के विकल्प-भाव, वह कहीं चारित्र नहीं है, वह कहीं मुक्ति का मार्ग नहीं है। आहाहा! यहाँ तो जीव की ३८ गाथा पूरी होने का वर्णन है न। आहाहा!

मुमुक्षु : परिणमता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणमित। ऐसे आत्मा को समझाया, ऐसा आता है न टीका में? उसने जाना, उसने माना, स्वरूप की रमणता में, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। इस

जीव का स्वभाव अन्तर जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव त्रिकाल है, उसका वर्तमान दशा में उस स्वभाव-सन्मुख होकर जो परिणमन सम्यग्दर्शन निर्विकल्प परिणमन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह समकित नहीं है। समझ में आया? पूर्ण आनन्दस्वरूप प्रभु जैसा सर्वज्ञ परमेश्वर ने-भगवान ने इस स्वरूप को वस्तुरूप से जो देखा है, ऐसा ही जो अन्दर में देखना आवे। आहाहा! उसकी ओर की प्रतीति करने से राग के मिश्रित विचार छोड़कर.... आहाहा! शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु की सम्यग्ज्ञान में-भान में प्रतीति होना (वह सम्यग्दर्शन है)। वैसा परिणमन होना। १५५ न? पुण्य-पाप की, '**जीवादीसद्दणं**' १५५ (गाथा)। यह प्रश्न हुआ था, वहाँ दिल्ली, यह विद्यानन्दजी ने प्रश्न किया था कि '**जीवादीसद्दणं**' यह क्या है? कहा, उसमें देखो, क्या है वह। '**जीवादीसद्दणं**' ऐसा आत्मा के ज्ञान का परिणमन होना। ऐसा नहीं कि आत्मा है और उसे हम विकल्प से मानते हैं और यह जीव है, और यह अजीव है, यह पुण्य-पाप है, ऐसी इसने विकल्प से श्रद्धा की, वह वस्तु नहीं है। समझ में आया?

यह **दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित....** वहाँ भी ऐसा कहा है। ज्ञानरूप श्रद्धा का परिणमना, आत्मारूप परिणमना। ऐसी निर्विकल्प श्रद्धा। शुद्ध चैतन्य पूर्ण स्वरूप का अस्तित्व है—मौजूदगी, उस अस्तित्व का स्वसन्मुख होकर विकास सम्यग्दर्शन की पर्याय द्वारा होना.... आहाहा! और सम्यग्ज्ञान द्वारा वह पूर्ण स्वरूप ज्ञेय होकर ज्ञान में आत्मा का उसरूप ज्ञानरूप परिणमन होना.... आहाहा! इसका नाम ज्ञान। और वह आत्मा अपने स्वरूप में रमणतारूप से परिणमन होना, आनन्द की दशा का परिणमन अवस्था का होना, वह चारित्र है। आहाहा! कहो, महेन्द्रभाई! ऐसी बात है। अरे! उसे यह चीज़ ऐसी है, उसकी ओर इसे देखना नहीं। जहाँ देखने का, मानने का जहाँ है, वहाँ देखा नहीं, माना नहीं। आहाहा! और पर को ऐसे देखकर उसे माना है कि यह आत्मा है, यह अमुक है। यह वस्तु का स्वरूप नहीं है। समझ में आया?

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित.... पर्यायवाला, ऐसा कहते हैं। द्रव्य-गुण तो ध्रुव शुद्ध है। आहाहा! एक। वहाँ तक तो वह मिथ्यादृष्टि था। चाहे तो वह व्रत पालता हो, भक्ति करता हो, पूजा करता हो। समझ में आया? परन्तु यह उसे राग की क्रिया की सन्मुखता-दृष्टि है, इसलिए उसका स्वीकार है। परन्तु रागरहित पूर्णानन्द का नाथ प्रभु....

अर्थात् कि स्वसन्मुख होने पर वह पूर्ण चीज़ ही दृष्टि में आवे। ऐसे झुका न? ऐसे झुका, वैसे राग और अल्पज्ञ पर्याय ही उसमें दृष्टि में आती है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! मार्ग भी ऐसा है। लोग ऐसा मानते हैं कि यह तो निश्चय... निश्चय। बापू! निश्चय, वह सत्य है। आहाहा! व्यवहार एक दूसरे द्रव्य की, एक दूसरे कारण-कार्य की भाव की.... आता है न? बात करता है, परन्तु ऐसा माने, तब तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्यस्वभाव शुद्ध पूर्ण उसके सन्मुख होने पर उसका परिणमन होता है, ऐसा कहते हैं। उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन का परिणमन, सम्यग्ज्ञान की स्थिति होना और स्वरूप में आनन्द-लीनता की दशा होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। आहाहा! कहो, समझ में आया? अभी तो यह गुजराती पुस्तक है न! इसमें तो हिन्दी मुश्किल पड़े। हिन्दी हो ऐसा नहीं इसमें। हिन्दी सवेरे होता है। यह तो गुजराती नया हुआ। इसका कहीं हिन्दी हुआ नहीं। गुजरातीवालों को तो हिन्दी में से गुजराती करना पड़ता है। ऐई! महेन्द्रभाई! अब यह हिन्दीवालों को गुजराती में से हिन्दी करना हो तो करे। यह तो पहला-वहला हुआ है न। आहाहा!

सम्यग्दर्शन अन्तर अनुभव-यह ज्ञानस्वरूपी प्रभु ज्ञाता दृष्टि में आकर, जिसकी दृष्टि का परिणमन दशा में होना, प्रतीतिरूप परिणमन होना, ज्ञान का ज्ञानरूप स्व को पूर्ण को ज्ञेय बनाकर, उसे ज्ञेय बनाया अर्थात् परिणमन ही ज्ञान का हुआ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! बात कठिन, बापू! वीतरागमार्ग सर्वज्ञ का मार्ग ऐसा है कि लोगों को यह ऐसा ही लगता है कि यह तो एकान्त... एकान्त, निश्चय-निश्चय। प्रभु! परन्तु मार्ग ही यह एकान्त है। ऐसा एकान्त ज्ञान हो, एकान्त दर्शन हो, स्व के आश्रय से, तब फिर उसमें जो कुछ राग बाकी रहे, उसे जानने का ज्ञान अनेकान्त का तब सच्चा होता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा **परिणमित आत्मा जानता है कि—** ऐसा कहा है न? ऐसे का ऐसा जानता है, ऐसा नहीं। आहाहा! यह तो अर्थ में ऐसा किया है, भाई! मूल में। मूल में यह ही है। यह ही। यह देखा। शब्द शब्द। शब्द शब्द। परिणमित आत्मा ऐसा उसमें है। पहली लाईन में देखा था। परिणमित इसमें लिखा है, मूल स्थिति है ऐसी। आहाहा! दया, दान,

व्रत, भक्ति, पुण्य-पाप के भाव ये मेरे हैं, यह मैं हूँ—ऐसा मिथ्यात्व का परिणमन ऐसी मिथ्याश्रद्धा की दशा होना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है। समझ में आया? अरे! ऐसी जिन्दगी मिले और उसका.... आहाहा! उसे तो देखा नहीं, माना नहीं, स्थिर हुआ नहीं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करो, यन्त्र रचो। और यन्त्र बहुत आये हैं। शब्दकोश में इतने यन्त्र आये हैं कि उसने ऐसा अभ्यास किया है। नहीं यहाँ? नहीं? आज आये थे। कितने.... बताया था नहीं? ओहोहो! यन्त्र बनाये। चक्र और उसमें नाम और.... ओहोहो! ये कितने ही यन्त्र वापस ऐसे। पृष्ठ के पृष्ठ भरे हैं। ओहोहो! ऐसा पर के लिये याद करते अक्षरों में उसे रचना। यह अक्षर यहाँ है और यह अक्षर यहाँ है। बहुत सूक्ष्म। यह मेहनत बिना की चीज़ है बाहर की। उसमें कुछ बाहर का बहुत जानपना हो तो ही यह होता है, ऐसा कुछ है नहीं। यह परमात्मा स्वयं अन्दर शुद्ध चैतन्यघन, ऐसा इसका पूर्ण रूप ही है द्रव्य और गुण में। उसकी प्रतीति का परिणमना, ज्ञान का परिणमना और स्थिरता का होना। ऐसा आत्मा परिणमित आत्मा जानता है कि.... ऐसा। '**निश्चय से मैं एक हूँ,....** वास्तव में तो मैं एक हूँ। आहाहा! इस सम्यग्दर्शन में (स्वलक्षी) विषय में यह आत्मा परिणमित, ऐसा जानता है। आहाहा! लोग मध्यस्थ से, शान्ति से, धीरज से देखते नहीं, सुनते नहीं, विचारते नहीं। इसलिए ऐसी बात को एकान्त-एकान्त कहकर उड़ा देते हैं। अरे! भगवान! भाई! उसमें तू उड़ जाता है, भाई! तू किसे उड़ाता है? समझ में आया? आहाहा! जिसके परलक्ष्यी ज्ञानी में अभी ऐसी खबर नहीं कि भगवान आत्मा अन्दर में पूर्णानन्द के नाथ के जहाँ स्मरण में जाता है, तब उसका ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन, समकितरूप परिणमन और शान्ति, आनन्द.... आनन्द.... आनन्द.... आनन्द.... आहाहा! ऐसा परिणमित आत्मा अपने को ऐसा जानता है कि.... जीवतत्त्व की अन्तिम है न यह गाथा? जीव की अन्तिम गाथा है। आहाहा!

यह समयसार और यह वस्तु। भरतक्षेत्र में केवली की वाणी रह गयी है। आहाहा! केवली ने कहे हुए तत्त्व समयसार द्वारा प्रसिद्ध किये हैं। आहाहा! कहते हैं कि तू यह समयसार शास्त्र द्वारा प्रसिद्ध हो, ऐसा तू नहीं है। आहाहा! सुजानमलजी! आहाहा! तू तो तीन लोक का नाथ अन्दर विराजता है। प्रभु! आनन्द का सागर है। उस

आनन्द के सागर को स्वीकार करने में तेरा परिणमन है, कहते हैं। ऐसा परिणमित आत्मा अपने को कैसा जानता है ? (ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

कि—'निश्चय से मैं एक हूँ,... आहाहा! मैं एक शुद्ध हूँ। वास्तव में वस्तु तो मैं एकरूप ही हूँ, एक हूँ। गुण-गुणी के भेद भी जिसमें नहीं। आहाहा! राग और पुण्य के परिणाम भी (जिसमें नहीं)। मैं जो हूँ आत्मा, वह परिणमित मैं आत्मा को ऐसा जानता हूँ। आहाहा! समझ में आया ? इसकी टीका तो लम्बी है न बड़ी। इसमें तो संक्षिप्त इतने शब्दों में से निकालकर (आधार दिया है)। आहाहा!

वास्तव में... आहाहा! '**खरे**' है न शब्द ? **मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानदृग हूँ, यथार्थ से...** यथार्थ से शब्द है। आहाहा! परन्तु यह आत्मा मैं नहीं। समझ में आया ? मैं तो मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से परिणमित ऐसा वह मैं एक हूँ। ऐसे तीनरूप से परिणमित हुआ हूँ, तथापि उस द्वारा एक हूँ, ऐसा मैंने निश्चित जाना है। आहाहा! समझ में आया ? अरे! ऐसी वाणी कहाँ है ? बापू! कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् भगवान के पास (गये थे)। आहाहा! है न ? यहाँ सामने है न, समवसरण में है। यह आचार्य दिखते हैं, देखो न! यह दिखते हैं न ? सामने। वहाँ कहाँ ? यहाँ दिखते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य स्तम्भ की आड़ में से ऐसे दिखते हैं। स्तम्भ आड़े नहीं आता। उस ओर दिखते हैं। साक्षात् दिगम्बर सन्त, जिन्हें आत्मदर्शन-ज्ञान-चारित्र सच्चे परिणमित भावलिंगी मुनि हैं, सन्त हैं। आहाहा! णमो लोए सव्व आईरियाणं, उसमें ये सम्मिलित हो गये हैं। वे समवसरण में खड़े हैं। समझ में आया ? आहाहा!

वे ऐसा कहते हैं कि मैं अर्थात् कौन ? मैं अर्थात् कौन ? मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी निर्मलानन्द की पर्यायरूप परिणमित। वह मैं मेरे आत्मा को कैसा जानता हूँ ? ऐसा परिणमित कैसा जानता हूँ ? आहाहा! **मैं एक हूँ....** आहाहा! तीनरूप परिणमित चीज़ तथापि मैं इस द्वारा तो ऐसा जानता हूँ कि मैं एक हूँ। आहाहा! कहाँ गये तुम्हारे वृद्ध ? वहाँ बैठे हैं। कहो, समझ में आया ? आहाहा!

मैं शुद्ध हूँ.... मैं शुद्ध हूँ। आहाहा! अशुद्ध, वह मैं नहीं—ऐसा न कहकर अस्ति से ऐसा लिया है। बाद में नास्ति से कहेंगे। आहाहा! वास्तव में मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ। वह

टीका करते हैं पीछे। द्रव्यानुयोग के अभ्यासी ऐसा कहते हैं कि हम तो शुद्ध हैं, शुद्ध हैं। अरे! भगवान सुन न, भाई! यह अशुद्धता है, उसका ज्ञान करते हैं, परन्तु वह ज्ञान और दर्शन ऐसा मानता है कि मैं तो शुद्ध हूँ। समझ में आया? पर्याय में अशुद्धता है। यह लिखते हैं तब विकल्प नहीं? परन्तु वह तो ज्ञान उसे जानता है। व्यवहारनय का ज्ञान। यहाँ तो निश्चय का ज्ञान और निश्चय की श्रद्धा और निश्चय की अन्दर चारित्र की परिणति दशा, भाई! आहाहा!

'दर्शनमोह व्यतीत हुआ उपजा बोध जो।' आता है न? 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान जो।' आहाहा! महेन्द्रभाई! किसमें आता है? श्रीमद् में। तुम्हारे पिता को बहुत प्रेम है। सेठी को अपूर्व अवसर का बहुत है। आहाहा! 'दर्शनमोह व्यतीत हुआ उपजा बोध जो,....' अपेक्षा से बात की है। यहाँ तो समयग्दर्शन की पर्याय अपने कारण से हुई है और स्व का आश्रय कहना, वह भी.... इस कथनी को निश्चय में यदि न समझे-रचे तब तो मुश्किल पड़ जायेगी। समझ में आया?

कहते हैं, मैं **शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ,...** अपूर्ण हूँ, ऐसा भी नहीं। मैं आत्मा वस्तु वह तो दर्शनज्ञानमय। दर्शनज्ञानवाला भी नहीं। वह तो भेद पड़ता है। आहाहा! मैं यह दर्शन—देखना, ऐसा स्वभाव; ज्ञान—ऐसा स्वभाव, स्वभाव। वह मैं दर्शनज्ञानमय हूँ। मैं आत्मा अर्थात् परिणमित आत्मा, ऐसे आत्मा को जानता है कि.... आहाहा! आत्मारूप हुआ आत्मा ऐसा जानता है कि.... आहाहा! **शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ,...** अनन्त गुण हैं, वे कहाँ गये? यह दर्शन-ज्ञान की मुख्यता में सब गये। क्योंकि देखना-जानना वही उसका उपयोग, वही उसका वास्तविक स्वरूप है। उपयोग, वह आत्मा ऐसा कहा है न? तो दर्शनज्ञानमय उपयोगलक्षणों जीवो। आता है? (उपयोग लक्षण)। इसका अर्थ क्या हुआ? यह दर्शनज्ञान जो उपयोग है, वह मैं हूँ। समझ में आया? दर्शन-ज्ञान में सब गुण अविनाभावीरूप से है और दर्शन-ज्ञान को देखता-जानता है तो वह दर्शन-ज्ञानमय ही मैं हूँ। उन सब गुणों को देखनेवाला ज्ञान, ऐसा जो सम्यग्ज्ञानमय मैं हूँ। कान्तिभाई! आहाहा! समझ में आया?

सदा अरूपी हूँ;.... यह कर्म के सम्बन्ध से रूपी भी कहा है न? मैं कर्म के

सम्बन्ध में हूँ ही नहीं। मेरा जो ज्ञायकभाव त्रिकाल दर्शन-ज्ञानमय उसे और कर्म को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बातें, बापू! भगवान वीतराग का आत्मा अर्थात् कि वीतराग ने कहा हुआ आत्मा, उसका ज्ञान और दर्शन होने से आत्मा हूँ (ऐसा) उसे जानता है। आहाहा! समझ में आया?

यह ऐसा कहते हैं कि शास्त्र से मैं ऐसा जानता हूँ, ऐसा नहीं। मैं तो मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय से परिणमित आत्मा ऐसा मुझे मैं जानता हूँ। सदा अरूपी। सदा अर्थात् त्रिकाल अरूपी, ऐसा। और कर्म का सम्बन्ध था, इसलिए उसे रूपी कहने में आया है। आहाहा! यह तो व्यवहार का ज्ञान कराने को (कहा है)। परन्तु मैं तो त्रिकाल अरूपी। मेरे स्वरूप में रंग, गन्ध, रस और स्पर्श हैं ही नहीं। आहाहा! यह फिर कहेंगे। कुछ अन्य वह मेरा नहीं। यहाँ तो है रूप का (अस्ति का) लेते हैं न अभी तो? आहाहा!

सदा अरूपी हूँ;.... यह है न अर्थ? **मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, सदा अरूपी हूँ;...** इसके पहले दर्शन-ज्ञानमय ले लिया। अब कहते हैं, '**कुछ अन्य वह मेरा नहीं....**' अब नास्ति से बात करते हैं। आहाहा! यह गुण-गुणी के भेद का जो विकल्प उठे, वह भी जरा मेरा नहीं। आहाहा! मैं तो ज्ञान-दर्शन से भरपूर प्रभु, अन्य वह मेरा कुछ नहीं, जरा भी नहीं। है? **कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है....** आहाहा! यह और पैसेवाला हूँ, पत्नी का पति हूँ, नर का नृपति हूँ। नृपति—राजा। आहाहा! कहते हैं, मैं इस संस्था का प्रमुख हूँ।

मुमुक्षु : है तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा!

प्रभु आत्मा आनन्द का नाथ अन्दर ज्ञानसागर से भरपूर। आहा! मुझमें अन्य राग का विकल्प या अन्य की पदवीं, वह कोई चीज़ मुझमें नहीं। आहाहा! मैं शिष्य का गुरु.... आहाहा! अन्य **कोई भी अन्य पर...** यह तो हो गया, शिष्य भी मेरा नहीं। आहाहा! यह सम्प्रदाय मेरा है, यह संघ मेरा है, (यह मान्यता खोटी है)। आहाहा! भगवान आत्मा अपने पवित्र स्वरूप को दृष्टि-ज्ञान में परिणमकर... आहाहा! और यहाँ

तो चारित्र को परिणम कर। पूर्ण अधिकार लेना है न? वह ऐसा कहते हैं.... ऐसा जानता है। कहना है कहाँ? कि मैं **कोई भी अन्य परद्रव्य....** इस राग का कण जो व्यवहाररत्नत्रय का.... आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का जो विकल्प, **अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है...** समझ में आया? ऐसा धर्म का उपदेश। भारी ऐसी बातें! अब तो ऐसा पालन करे, ऐसा व्रत पालो, यात्रा.... क्या कहलाता है अपने? सम्मेदशिखर। यात्रा करो, पालीताणा की यात्रा करो, गिरनार की करो, तीर्थों में जाओ। अरे! यह सब बातें विकल्प की हैं, बापू! यह विकल्प उठता है वह, कहते हैं कि मैं नहीं हूँ, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहाहा! ऐसा आत्मा जाना, उसे परिणमित, उसने ऐसा आत्मा को जाना है। आहाहा!

कोई भी.... ऐसा शब्द है न? **अन्य.... कोई अन्य....** ऐसा शब्द है न पाठ? **कोई अन्य....** कुछ भी अन्य। जितना मेरे स्वभाव से विरुद्ध कहा जाता है, वह सब अन्य है। **कोई भी अन्य....** मैं इस प्रकार हूँ, तो इस प्रकार मैं इस (पर) रीति से भी नहीं। कुछ भी अन्य परद्रव्य अर्थात् रजकण और राग, एक राग का कणमात्र, अरे! जिससे तीर्थंकरगोत्र बँधे, ऐसा भाव भी मुझमें नहीं है। आहाहा! ऐई! आहाहा!

कोई भी अन्य.... कुछ भी अन्य। अरे! गुण-गुणी का भेद पड़ता है, वह भी अन्य है। आहाहा! मैं एकरूप में ऐसा अन्यपना कुछ मुझमें नहीं है। समझ में आया? धर्मी की दृष्टि धर्म के ऊपर होने से वह धर्मी ऐसा अनुभव करता है और जानता है। आहाहा! समझ में आया? **अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र....** एक रजकण-पॉईन्ट भी... आहाहा! यह अनन्त रजकण, कर्म अनन्त रजकण, वाणी अनन्त रजकण, तेजस, उसके अन्तिम में अन्तिम एक रजकण और राग का भी छोटे में छोटा एक अंश.... आहाहा! वह भी (मैं नहीं)। अनेकान्त आया है, भाई की ओर से पुस्तक। हुकमीचन्दजी, जयपुर से आयी है। अनेकान्त की पुस्तक आयी है। दो पूजा की आयी है, वह तो अपने यहाँ पढ़ा गये हैं न? पढ़ा गये हैं, उसे छपाया है। वह हाथी का दृष्टान्त दिया है। एक ने पूंछ पकड़ी और एक ने दाँत पकड़ा और एक व्यक्ति पूरे को देखता है। यह फोटो दिया है सामने। आज थोड़ी पुस्तकें लेकर आये हैं। २०००। थोड़ी-थोड़ी है।

अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है — यह निश्चय है। देखो! इसमें लिखा

है। यह कहाँ से (लिया है)। **श्री समयसार गुजराती आवृत्ति गाथा-३८।**

अब '**युक्ति**'। **शरीर और आत्मा, एक-दूसरे से भिन्न हैं,....** भगवान चैतन्यस्वरूपी और यह शरीर जड़ रूपी, अत्यन्त भिन्न चीज़ है। व्यवहारनय से ऐसा कहते हैं कि आत्मा और शरीर एक है। आता है न? वह झूठे नय का कथन है। आहाहा! झूठाबोला, झूठा का सत्य करने के लिये कुछ प्रपंच करना पड़े। वैसे शरीर और आत्मा को एक मानने के लिये व्यवहार की कुछ कल्पनायें उठें। हमारा ऐसा सम्बन्ध है न, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है या नहीं? अमुक है या नहीं? समझ में आया? यह तो पंचाध्यायी में नहीं कहा? वहाँ भी निमित्त अर्थात् क्या? शरीर शरीर के कारण से परिणमता है, तू तेरे कारण से परिणमे। उसमें निमित्त करे क्या तुझे? भाई ने लिखा है। मक्खनलालजी ने अर्थ किया है। परन्तु वापस अर्थ.... अरे! भाई! यह कोई पक्ष की चीज़ नहीं। यह तो वस्तु की सत्ता की मर्यादा की चीज़ है। आहाहा! उसकी मर्यादा में जाने से कि मैं तो ऐसा एक शुद्ध सदा अरूपी दर्शन-ज्ञानमय अभेद और उससे भिन्न रजकण और राग का अंश भी मुझमें नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह मुझमें नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

शरीर और आत्मा, एक-दूसरे से भिन्न हैं,.... यह प्रश्न किया था भाई ने, नहीं? वहाँ तब (संवत्) १९९५ के वर्ष में, ...सागरामलजी ने कहा (पूछा), द्रव्ययोग और भावयोग क्या है? ९५में। पालीताणा गये न तब। थे न। तब कहे, द्रव्ययोग भाव (योग) अभी अलग नहीं। अरे...! भगवान! समझ में आया? द्रव्ययोग यह कम्पन होना आदि प्रदेश का। भावयोग तो कर्म ग्रहण होने की शक्तिरूप जो भाव, वह भावयोग। ये दोनों भिन्न हैं। मुझमें ये हैं नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह कम्पन और कर्म ग्रहण में निमित्तरूप भावरूप शक्ति वह मुझमें नहीं है। आहाहा! कब? अभी। आहाहा! अरे! इस बात को अन्दर बैठाना, बापू! इस भाव को अन्दर में रचना, व्यवस्थित करना अलौकिक बातें हैं, बापू! अपवास नहीं कि यह कर दिये आठ अपवास। शरीर का बल हो तो आठ अपवास और पन्द्रह अपवास कर दिये। हो गयी तपस्या। धूल भी नहीं तपस्या। आहाहा!

भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसमें उप अर्थात् समीप में जाने से, वस्तु है उसके

समीप में जाने से उसे उपवास कहा जाता है। बाकी उसका समीपपना छोड़कर यह सब अपवास आदि होते हैं, वह सब लंघन है। समझ में आया? क्या कहा? त्रागा... ऐई! नवरंगभाई! ऐसी बात है, भाई! वस्तु ऐसी है, हों! आहाहा!

कहते हैं, **दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।** भगवान आत्मा का लक्षण ज्ञान-दर्शन और शरीर का लक्षण जड़ अचेतन। आहाहा! अरे! राग का लक्षण भी अचेतन है। भगवान आत्मा का लक्षण तो ज्ञान-दर्शन है। समझ में आया? **आत्मा, ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला है और शरीरादि उससे विरुद्ध लक्षणवाले हैं, अर्थात् अचेतन-जड़ हैं।** आहाहा! **जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं,....** जिनके लक्षण-जाननेयोग्य चिह्न भिन्न होते हैं, **वे सब एक-दूसरे से भिन्न होते हैं;....**

मुमुक्षु : युक्ति बतायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, युक्ति अनुमान। अनुमान कहा है न!

वे सब एक-दूसरे से भिन्न होते हैं; जैसे कि जल का लक्षण शीतलपना.... जल... जल-पानी। वह तो शीतलरूप से ज्ञात होता है। **अग्नि का लक्षण उष्णपना है। इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न हैं, इस कारण जल से अग्नि भिन्न है।** ऐसा सिद्ध किया कि एक का लक्षण ठण्डा और एक का लक्षण उष्ण। ऐसे दोनों के लक्षण भिन्न हैं, इसलिए वस्तु भिन्न है। युक्ति कही। दो के लक्षण भिन्न हैं, इससे दोनों चीज़ें भिन्न हैं। आहाहा! यह तो मेरा शरीर, मुझे रोग हुआ, मुझे रोग मिट गया, मेरा शरीर, मेरी काठी पतली है, मेरा शरीर अदोदलुं है। बापू! वह सब कहाँ है तुझमें? वे तो सब शरीर के लक्षण की बातें हैं। आहाहा! जिसके चिह्न उस द्रव्य को पहिचानने के लिये जिसके चिह्न अलग हैं, वह चीज़ अलग है। आहाहा! **इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न हैं,...** जल का शीतलपना (लक्षण) और अग्नि का लक्षण उष्णपना। इसलिए जिसके लक्षण अलग तो उन दोनों के लक्षण से भिन्न वह वस्तु भी भिन्न है। आहाहा!

जैसे, सोने और चाँदी का एक पिण्ड होने पर भी,... यह आता है। सोना का और चाँदी का इकट्ठा पिण्ड करें, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यह सफेद सोना। सफेद सोना नहीं। सोना तो पीला है। सफेद तो चाँदी है। परन्तु इकट्ठा डाले, इसलिए

सफेद सोना, ऐसा कहते हैं। इससे सोना सफेद नहीं है। सफेद तो चाँदी है। आहाहा! **सोने और चाँदी का एक पिण्ड होने पर भी,...** स्कन्ध-स्कन्ध। पिण्ड अर्थात् स्कन्ध। **उसमें सोना अपने पीताशादि लक्षणों से और चाँदी अपने शुक्लादि लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं....** पिण्ड एक होने पर भी दोनों के लक्षण से वह वस्तु भिन्न है। सोना गलाकर चाँदी को इकट्ठा डाले या चाँदी गलाकर सोना इकट्ठा डाले, परन्तु तो भी दोनों के लक्षण तो भिन्न हैं। पीलापन लक्षण सोना, चाँदी का लक्षण सफेद। दोनों के भिन्न लक्षण हैं, तो वस्तु भिन्न हो गयी। आहाहा!

वैसे ही जीव और कर्म-नोकर्म (शरीर), एक क्षेत्र में होने पर भी,.... लो! देखा! वह पिण्ड कहता था न? सोना और चाँदी का एक स्कन्ध इकट्ठा किया हो, तथापि दोनों के लक्षण से दोनों उस काल में भी भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? यह **जीव और कर्म-नोकर्म (शरीर),....** नोकर्म अर्थात् शरीर, वाणी आदि, कर्म में रागादि और सब आता है। **एक क्षेत्र में होने पर भी,....** एक जगह रहे होने पर भी, सोना और चाँदी का एक जत्था / स्कन्ध-पिण्ड किया होने पर भी, दोनों के लक्षण अर्थात् चिह्नों द्वारा दो भिन्न चीज़ है, ऐसा ज्ञात होता है। उसी प्रकार जीव और शरीर और कर्म **एक क्षेत्र में होने पर भी, अपने-अपने लक्षणों द्वारा वे एक-दूसरे से भिन्न ज्ञात हो सकते हैं।** बहुत सादी भाषा में।

तथा अन्तरङ्ग राग-द्वेषादि विकारीपरिणाम भी वास्तव में आत्मा के ज्ञानलक्षण से भिन्न हैं,.... आहाहा! व्रत करूँ, तपस्या करूँ, अपवास करूँ, ऐसा जो विकल्प उठता है, कहते हैं कि वह तो विकारी राग-द्वेष विकारी परिणाम है। आहाहा! वे विकारी परिणाम जिससे बन्ध होता है, वे आत्मा के परिणाम हैं? वह तो विकारी है। आहाहा! **वास्तव में आत्मा के ज्ञानलक्षण से....** यह विकारी परिणाम राग शुभभाव, दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का, यात्रा का भाव इस ज्ञान लक्षण से तो उनका स्वरूप भिन्न है। आहाहा!

सवेरे ऐसा कहा कि राग की उत्पत्ति या राग का व्यय होकर अराग की उत्पत्ति, तीव्रराग का व्यय होकर मन्दराग की उत्पत्ति वह अपनी सत्ता का अनुभव है। अपनी सत्ता के अस्तित्व का अनुभव है। यह तो पूरा तत्त्व द्रव्य और पर्याय सहितवाले की बात

की। यहाँ तो यह राग की पर्याय से भिन्न वस्तु है, उसे यहाँ बताना है। उसकी सत्ता में यह नहीं, ऐसा बताना है। सवेरे तो उसकी सत्ता का उत्पाद-व्यय और (ध्रुव), वह गुण-पर्यायवाला सत् द्रव्य है और वह सत्ता की दशा है। यह आत्मा की सत्ता की ये दशायें हैं। वह तो पर से भिन्न करके बतलाने की बात है। समझ में आया? उसकी सत्ता के अस्तित्व में हो, इतना बतलाने का वहाँ काम है। पर्याय के अस्तित्व में हो, वह भी वहाँ बताना है। आहाहा!

यहाँ तो अभी इस पर्याय में रागादि अस्तित्व है, वह त्रिकाली ज्ञानस्वरूप में नहीं। आहाहा! किस अपेक्षा से कौन सा कथन है यह समझे नहीं और यह लिखा शास्त्र में। सब लिखा है शास्त्र में, सुन न! परन्तु किस नय का कथन है, किस अपेक्षा से कहा है? कहाँ क्या सिद्ध करना है? उसे जाने बिना अर्थ करे (तो) गड़बड़ उठे। आहाहा!

कारण.... अब कारण देते हैं। राग-द्वेष विकारी परिणाम वास्तव में आत्मा के ज्ञानलक्षण से भिन्न हैं। उसमें ज्ञान है राग में? राग जानता है कुछ? चाहे तो तीर्थंकरगोत्र का भाव हो, वह राग कुछ जानता है? वह तो अनजान चीज़ हुई। जाननेवाली चीज़ नहीं हुई। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **वास्तव में आत्मा के ज्ञानलक्षण से....** अर्थात् कि जो राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध का जो राग उत्पन्न होता है, उस राग में ज्ञान नहीं है। ज्ञान का लक्षण तो आत्मा का है। इस लक्षण से पहिचाना जाता है। राग आकुलता के लक्षण से ज्ञात होता है। समझ में आया? ऐसी बात! ऐसा धर्म का उपदेश! वह तो करो, यह करो, यह करो। धमाल। यह गजरथ होनेवाला है या नहीं अभी कहीं? भगवान के २५००वें वर्ष हुए इसलिए। कल कहता था, नहीं? कुण्डलपुर। गजरथ। आहाहा! हाथी निकाले और रथ में चढ़े, पाँच-दस लाख, दो-पाँच लाख खर्च करे। इतने अधिक नहीं खर्चते होंगे। फिर संघवी की पदवी दे, संघवी। वहाँ आत्मा उसमें नहीं, कहते हैं। यह हाथी के रथ निकले, उसमें भी आत्मा नहीं है और उसकी ओर का जो शुभभाव है, उसमें भी आत्मा नहीं है, आत्मा का स्वरूप नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! तब तुमने नहीं किया यह सब? वह छब्बीस लाख का मकान (परमागममन्दिर)। रामजीभाई ने किया? तब किसने किया?

यह कहाँ चौबीस घण्टे यहाँ रहते थे सब ? अखण्ड... रामजीभाई थे। कौन करे ? भाई ! यहाँ तो यह कहते हैं। उसके परमाणु की पर्याय के काल में वे परमाणु रच गये हैं। उन्हें जीव करे, तब तो जीव अजीव हो जाये। समझ में आया ? आहाहा !

या तो ऐसा कहे, कानजीस्वामी ने यह बनाया, देखो ! यहाँ पुण्यवन्त प्राणी है और करोड़ोंपति यहाँ आते हैं। करोड़ोंपति आवे, या न आवे। किसी को हमने कुछ कहा नहीं। पोपटभाई ! यह करोड़पति रहे। कहा है तुमको कभी कि तुम इसमें पैसे दो ? यह तो इसके कारण से बनने की चीज़ हो तो बने बिना रहे नहीं। यदि आत्मा उसे रचे, ऐसा हो तब तो आत्मा जड़ हो गया। ज्ञान लक्षणवाला रहा नहीं। वह तो जानने के लक्षणवाला है। आहाहा ! और उसमें होनेवाला जो भाव शुभ, वह भी जानने के लक्षणवाला स्वरूप नहीं है, वह तो अजाननस्वरूप है। आहाहा ! वह शुभराग (हो) कि यह होता है। भले कहा न हो और होता है, ऐसा शुभराग। वह शुभराग कहीं चैतन्य के लक्षणवाला नहीं। उसमें तो अजानपना है। राग जानता है कुछ ? राग अपने को जानता है कि मैं कौन हूँ ? राग के समीप भगवान चैतन्यमूर्ति अन्दर है, उसे राग जानता है ? आहाहा ! इसलिए राग का लक्षण और चैतन्य का लक्षण, दोनों भिन्न चीज़ है। गले उतरना कठिन, हों ! और व्यवहार साधक होता है, निश्चय साध्य होता है। देखो ! ऐसा आता है। ऐई ! पण्डितजी ने नहीं लिखा ? बड़ा अर्थ किया है। सब लिखा है। व्यवहार साधन है और धीरे-धीरे ऐसा होता है और ऐसा होता है। धीरे-धीरे आया नहीं ? क्षण-क्षण में आता है न ? आहाहा ! भाई ! वह तो राग की दशा वहाँ कैसी थी निमित्तरूप से। उपादान के कार्य उससे नहीं होते, इस प्रकार कैसा है, वैसा वहाँ ज्ञान कराया है। आहाहा !

देखो भाषा ! **आत्मा के ज्ञानलक्षण से भिन्न हैं, क्योंकि राग-द्वेषादिभाव क्षणिक और आकुलता लक्षणवाले हैं;....** देखा ! वह तो त्रिकाल नित्यानन्द ध्रुव है। उसका ज्ञानानन्द स्वभाव। उपयोग वह त्रिकाल स्वरूप है। आहाहा ! उपयोग में उपयोग है। आया है न ? वह तो आकुलता में आत्मा है ? आहाहा ! **वे स्व-पर को नहीं जानते;....** कौन ? आकुलता के लक्षणवाला राग, वह स्वयं और पर को नहीं जानता। विशेष कहेंगे, लो....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)